नवजागरण के दौर में भाषाई ज़मीन की तलाश...

(महावीर प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक - हिन्दी भाषा की उत्पत्ति)

दीनानाथ मौर्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास में 1900 से 1920 तक के दौर को 'द्विवेदी युग' के नाम से जाना जाता है। यह हिन्दी साहित्येतिहास का वह दौर था जब खड़ी बोली हिन्दी अपना स्वरूप तैयार कर रही थी। इस दौरान भाषा और बोली के अनेक विमर्श चर्चा में आए। हिन्दी भाषा की शब्द सम्पदा, लिपि और कहन के विविध तरीकों को लेकर एक लम्बी बहस चली। हम सब जानते हैं कि हिन्दी भाषा के इतिहास में बोलियों को बखूबी पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया गया है। आज हिन्दी भाषा और साहित्य का विद्यार्थी इस बात को भूलकर अपनी भाषिक परम्परा को नहीं टटोल सकता कि ब्रज, अवधी और बुन्देली आदि बोलियाँ दरअसल भाषाओं का ही एक रूप हैं– *हिन्दी भाषा की उत्पत्ति* पुस्तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा ऐसे समय (1907) में लिखी गई जब 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' के तथाकथित राष्ट्रवादी नज़रिए भाषा और साहित्य प्रगति के एजेंडे को स्पष्ट करने और प्रसारित करने का साधन थे। साथ ही वे अपने आप में जाति/राष्ट्र के रूपक भी थे। यह इस पुस्तक का दूसरा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पक्ष है। द्विवेदी जी 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक थे जिस ने इतिहास के उस दौर के भाषिक लोकवृत्त के निर्माण में अपनी अहम भूमिका निभाई थी।

35 पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण पुस्तक *हिन्दी भाषा की उत्पत्ति* की भूमिका इस बात से शुरू होती है कि "कुछ समय से विचारशील जनों के मन में यह बात आने लगी है कि देश में एक भाषा और लिपि होने की बड़ी जरूरत है, और हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि ही इस योग्य है।" भूमिका के अन्त में हिन्दुस्तानी भाषा के नामकरण को उस की समावेशी भाषिक-सांस्कृतिक पहचान से जोड़कर देखते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि 'हिन्दुस्तानी' नाम यद्यपि अंग्रेजों का दिया हुआ है तथापि है बहुत सार्थक। इस से हिन्दुस्तान भर में बोली जाने वाली भाषा का बोध होता है। यह बहुत अच्छी बात है। इस नाम के अन्तर्गत साहित्य की हिन्दी, सर्वसाधारण हिन्दी, दक्षिणी हिन्दी और उर्दू सब का समावेश हो सकता है।

पुस्तक की विषयवस्तु लेखक के इस विचार के अनुरूप ही विकसित हुई है– "इस में वर्तमान हिन्दी की बातों की अपेक्षा उस की पूर्ववर्ती भाषाओं की ही बातें अधिक हैं। हिन्दी की उत्पत्ति के वर्णन में इस बात की ज़रूरत थी। बंगाले में भागीरथी के किनारे रहने वालों से यह कह देना काफी नहीं कि गंगा हरिद्वार से आई है या वहाँ उत्पन्न हुई है। नहीं, ठेठ गंगोत्री तक जाना होगा, और वहाँ से गंगा की उत्पत्ति का वर्णन करके क्रम-क्रम से हरिद्वार, कानपुर, प्रयाग, काशी, पटना होते हुए बंगाले के आखात में पहुँचना होगा। इसी से हिन्दी की उत्पत्ति लिखने में आदिम आर्यों की पुरानी से पुरानी भाषाओं का उल्लेख कर के उन के क्रमविकास का हाल लिखना पड़ा है।" (भूमिका)

पाँच अध्यायों में विभाजित यह पुस्तक हिन्दी भाषा की उत्पत्ति की तलाश के लिए 1901 की जनगणना की रिपोर्ट के एक अध्याय (जो देश की भाषाओं के विषय में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा लिखा गया है) का सहारा लेती है। भाषा के विकास क्रम को आदिम आर्यों के स्थान, आर्य

भाषा की दो शाखाओं– ईरानी और पराजिक भाषा, मीदिक भाषा, आसुरी भाषा से दिखाते हुए विशुद्ध संस्कृत की उत्पत्ति तक आती है। विशुद्ध संस्कृत तक पहुँचते-पहुँचते लेखक ने भाषाई निर्माण की प्रक्रिया की तलाश में आर्य भाषा के अनेक संस्करणों पर भी विस्तारपूर्वक लिखा है। इसी भेद के क्रम में ही असंस्कृत आर्य भाषा और संस्कृतोत्पन्न आर्य भाषाओं की चर्चा भी पुस्तक में की गई है। पूर्वागत और नवागत आर्य संस्कृतियों के भौगोलिक विस्तार और प्रसार को आधार बनाते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है कि –"उस समय के आर्य जो भाषाएँ बोलते थे उस के नमूने वेदों में विद्यमान हैं। वेदों का मंत्र भाग एक ही समय में नहीं बना। कुछ कभी बना है, कुछ कभी। उस की रचना के समय में बड़ा अन्तर है फिर एक ही जगह उन की रचना नहीं हुई।"

प्राकृत के भेद का जिक्र करते हुए पुस्तक के लेखक की मान्यता है कि पुरानी संस्कृत जो वैदिक ज़माने में बोली जाती थी उसी से यह नई भाषा पैदा हुई थी। इस भाषा के साथ-साथ एक परिमार्जित भाषा की भी उत्पत्ति हुई। यह परिमार्जित भाषा भी पुरानी संस्कृत की किसी उपशाखा या बोली से निकली थी। इसी परिमार्जित भाषा का नाम हुआ संस्कृत अर्थात् 'संस्कार की गई'- 'बनावटी' और उस नई भाषा का नाम हुआ 'प्राकृत' अर्थात् स्वभावसिद्ध या स्वाभाविक। द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा की विकास यात्रा को ऐतिहासिक विकास के अनुसार देखा है। प्राकृत के विकास और उस के विभिन्न रूपों का ज़िक्र करते हुए वे अपभ्रंश भाषा के विकास तक आते हैं। इस सम्बन्ध में उन का विचार है कि –'हिन्दुस्तान की वर्तमान संस्कृतोत्पन्न भाषाओं का जन्म लगभग दसवीं सदी के अन्त में हुआ।' अपभ्रंश के विविध रूपों के साथ ही विभिन्न बोलियों के निर्माण की प्रक्रिया चलती रही इसी निर्माण के साथ ही सिन्धी, लहन्दा, मागधी, बांग्ला, असमी, पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी की अनेक बोलियों का विकास हुआ है।

प्राकृत के भेद का जिक्र करते हुए पुस्तक के लेखक की मान्यता है कि पुरानी संस्कृत जो वैदिक जमाने में बोली जाती थी उसी से यह नई भाषा पैदा हुई थी। इस भाषा के साथ-साथ एक परिमार्जित भाषा की भी उत्पत्ति हुई। यह परिमार्जित भाषा भी पुरानी संस्कृत की किसी उपशाखा या बोली से निकली थी। इसी परिमार्जित भाषा का नाम हुआ संस्कृत अर्थात् 'संस्कार की गई'- 'बनावटी' और उस नई भाषा का नाम हुआ 'प्राकृत' अर्थात् स्वभावसिद्ध या स्वाभाविक।

अपभ्रंश के भेद और उस के भाषाई रूपों के भौगोलिक विस्तार का जिक्र करते हुए उन्होंने पुस्तक में लिखा है कि- "गंगा-यमुना के बीच का जो मध्यवर्ती भाग है उस में नागर अपभ्रंश का एक रूप शौरसैनी प्रचलित था। वर्तमान पश्चिमी हिन्दी और पंजाबी उसी से निकली है। नागर अपभ्रंश का एक और भी रूपान्तर था उस का नाम था आवन्ती। यह अपभ्रंश भाषा उज्जैन प्रान्त में बोली जाती थी। राजस्थानी इसी से उत्पन्न है।"

संस्कृत भाषा की जड़ता के मूल में उस के व्याकरणिक नियमों की जटिलता को मुख्य कारक मानते हुए लेखक की यह मान्यता है कि 'हिन्दी पर ही नहीं, किन्तु हिन्दुस्तान की प्रायः सभी भाषाओं पर, आज सैकड़ों वर्ष से संस्कृत का प्रभाव पड़ रहा है। परन्तु उस का प्रभाव सिर्फ वर्तमान भाषाओं के शब्द-समूह पर ही पड़ा है, व्याकरण पर नहीं। इस शब्द समूह के संगठन के अनुसार हिन्दी भी दो तरह की होती गई। एक जिस में संस्कृत के शब्द ज़्यादा थे वह तत्सम समूह की जटिल हिन्दी बनी और दूसरी जिस में सर्वसाधारण की बोली के शब्द थे बोलचाल की सहज हिन्दी।'

यह महत्वपूर्ण है कि जिस दौर में संस्कृत को हिन्दी भाषा की जननी के रूप में मानने का एक आन्दोलन नागरी प्रचारिणी सभा सरीखी संस्थाएँ लगातार चला रही थीं उसी समय हिन्दी का एक प्रमुख सम्पादक यह लिख रहा था कि-

- "हमारी वर्तमान हिन्दी, अर्धमागधी और शौरसैनी अपभ्रंश से निकली है। अतएव जो लोग समझते हैं कि हिन्दी की उत्पत्ति

प्रत्यक्ष संस्कृत से हुई वे डॉक्टर ग्रियर्सन की सम्मति के अनुसार भूल करते हैं। डॉक्टर साहब की राय सयुक्ति जान पड़ती है... एक बात तो बिलकुल साफ है कि हिन्दी में संस्कृत शब्दों की भरमार अभी कल से शुरू हुई है। परिमार्जित संस्कृत चाहे सर्वसाधारण की बोली कभी रही भी हो, पर उस के बाद हजारों वर्ष तक जो भाषाएँ इस देश में बोली गई होंगी उन्हीं से आजकल की भाषाओं और बोलियों की उत्पत्ति मानना अधिक सम्भवनीय जान पड़ता है। जिस परिमार्जित संस्कृत को कुछ ही लोग जानते थे उस से सर्वसाधारण की बोलियों और भाषाओं का उत्पन्न होना बहुत कम सम्भव मालूम होता है।”

- "आज तक कुछ लोगों का ख़्याल था कि हिन्दी की जननी संस्कृत है। यह बात भारत की भाषाओं की खोज से गलत साबित हो गई। जो उद्‌गम-स्थान परिमार्जित संस्कृत का है, हिन्दी जिन भाषाओं से निकली है उन का भी वही है।”
- "जो संस्कृत भाषा हजारों वर्ष पहले बोली जाती थी उसे मिलाने की कोशिश करके अपनी भाषा के स्वाभाविक विकास को रोकना बुद्धिमानी का काम नहीं। स्वतंत्रता सब के लिए एक-सी लाभदायक है। कौन ऐसा आदमी है जिसे स्वतंत्रता प्यारी न हो? फिर क्यों हिन्दी से संस्कृत की पराधीनता भोग कराई जाए? संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जो शब्द प्रचलित हो गए हैं उन का प्रयोग हिन्दी में होना ही चाहिए। वे सब अब हिन्दी के शब्द बन गए हैं। उन से घृणा करना उचित नहीं।”

हिन्दी और उर्दू का विवाद भी नवजागरण के दौरान चलने वाली भाषिक बहसों का मुख्य मुद्दा रहा था। जो बाद के दिनों में भी हिन्दी समाज के बीच चलता रहा। यह मुद्दा भाषा से ज्यादा उस ऐतिहासिक नजरिये से जुड़ता है जिस में किसी भी एक भाषा को किसी धर्म से जोड़ने की कवायद बाद के दिनों में की गई। आचार्य द्विवेदी, हिन्दी के साथ ही उर्दू भाषा पर भी विचार रखते हैं जो तत्कालीन परिस्थितियों के साथ ही साथ आज भी काफी प्रगतिशील नजरिया समझ में आता है।

हिन्दी और उर्दू का विवाद भी नवजागरण के दौरान चलने वाली भाषिक बहसों का मुख्य मुद्‌दा रहा था। जो बाद के दिनों में भी हिन्दी समाज के बीच चलता रहा। यह मुद्‌दा भाषा से ज्यादा उस ऐतिहासिक नज़रिए से जुड़ता है जिस में किसी भी एक भाषा को किसी धर्म से जोड़ने की कवायद बाद के दिनों में की गई। आचार्य द्विवेदी, हिन्दी के साथ ही उर्दू भाषा पर भी विचार रखते हैं जो तत्कालीन परिस्थितियों के साथ ही साथ आज भी काफी प्रगतिशील नज़रिया समझ में आता है। उर्दू भाषा के बारे में द्विवेदी जी लिखते हैं कि "उर्दू कोई जुदा भाषा नहीं। वह हिन्दी ही का भेद है, अथवा यों कहिए कि हिन्दुस्तानी की एक शाखा है। हिन्दी और उर्दू में अन्तर इतना ही है कि हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और संस्कृत के शब्दों की उस में अधिकता रहती है। उर्दू फारसी लिपि में लिखी जाती है और उस में फारसी, अरबी के शब्दों की अधिकता रहती है। उर्दू शब्द 'उर्दू ए मअल्ला' से निकला है जिस का अर्थ है 'शाही फौज का बाज़ार”।

आज के समय में जब कभी-कभी बोलियों और भाषाओं के आपसी रिश्ते के विवाद, राजनीति का हिस्सा बन जाते हैं, लगभग 110 वर्ष पहले लिखी गई यह पुस्तक कई मायनों में हमारे नज़रिये को सही करने वाली साबित हो सकती है। मसलन बोली और भाषा का विवाद दरअसल राजनीतिक मसले से ज़्यादा कुछ भी नहीं है। सभी बोलियाँ भाषाएँ होती हैं। द्विवेदी जी लिखते हैं– "जिसे हम हिन्दी या उच्च हिन्दी कहते हैं वह देवनागरी में लिखी जाती है। इस का प्रचार कोई सवा सौ साल पहले न था। उस के पहले यदि किसी को देवनागरी में गद्य लिखना होता

था तो वह अपने प्रान्त की भाषा– अवध, बघेली, बुन्देली या ब्रज भाषा आदि में लिखता था।"

भाषा का स्वभाव उस का लचीलापन होता है। व्याकरण और शब्दों की अनावश्यक बन्दिशें भाषा के स्वाभाविक विकास में बाधा डालती हैं। हिन्दी में फारसी और अरबी के प्रचलित शब्दों को हिन्दी के अपने शब्द मान लेने की बात करने वाले द्विवेदी जी अनावश्यक रूप से किसी भाषा के शब्दों को हिन्दी में शामिल कर लेना सही नहीं मानते। वह चाहे संस्कृत के शब्द हों या अन्य दूसरी भाषाओं के।

'हिन्दुस्तानी' अर्थात् वर्तमान बोलचाल की भाषा के सब से पुराने नमूने उर्दू की कविता में पाए जाते हैं। उर्दू कोई अलग से भाषा नहीं है। वह हिन्दी के विकासक्रम में किसी खास ऐतिहासिक स्थिति में उत्पन्न भाषा की एक शैली है जिस में अरबी, फारसी शब्दों की बहुलता होती है। जिसे बाद के दिनों में फारसी लिपि में लिखा जाने लगा। जिसे आज हम अपनी दैनिक बोलचाल की भाषा में हिन्दी कहते हैं उस में हम न जाने कितने ऐसे शब्द बोलते और बरतते हैं जो भाषाई विकास के रूप में रेख्ता भाषा के उस रास्ते से आए हैं जिसे हम उर्दू कहते हैं। इस की परम्परा 'दकिनी हिन्दी' के वली दकिनी से लेकर सौदा और मीर तकी मीर तक जाती है।

भाषा का स्वभाव उस का लचीलापन होता है। व्याकरण और शब्दों की अनावश्यक बन्दिशें भाषा के स्वाभाविक विकास में बाधा डालती हैं। हिन्दी में फारसी और अरबी के प्रचलित शब्दों को हिन्दी के अपने शब्द मान लेने की बात करने वाले द्विवेदी जी अनावश्यक रूप से किसी भाषा के शब्दों को हिन्दी में शामिल कर लेना सही नहीं मानते। वह चाहे संस्कृत के शब्द हों या अन्य दूसरी भाषाओं के।

द्विवेदी जी इस पुस्तक में लिपि के रूप में देवनागरी को ही स्वीकारने के पक्ष में दिखाई देते हैं जिस के लिए उन के पास ठोस आधार के रूप में इस लिपि को जानने वालों की संख्या है। वे लिखते हैं –"देवनागरी लिपि के जानने वालों की संख्या फारसी लिपि के जानने वालों की संख्या से कई गुना अधिक है। इस दशा में सारे भारत में फारसी लिपि का प्रचार होना सर्वथा असम्भव और नागरी का सर्वथा सम्भव है।"

पुस्तक के कुछ हिस्सों को पढ़ते समय यह लगता है कि उस दौरान भाषा और लिपि के सवाल (विशेषकर हिन्दी और उर्दू के) दो समुदायों के साथ जोड़कर देखे जा रहे थे। द्विवेदी जी, यह मानने के बावजूद कि हिन्दी और उर्दू कोई ज़ुदा भाषाएँ नहीं हैं कई बार इस धारणा से मुक्त नहीं हो पाते हैं कि मुसलमान इस देश के निवासी नहीं हैं। उन्हें यहाँ की हिन्दी और लिपि को सीखना ही चाहिए। उदाहरण के लिए लिपि के सवाल पर उन का कथन है– "यदि मुसलमान सज्जन हिन्दुस्तान को अपना देश मानते हों, यदि स्वदेश-प्रीति को कोई चीज़ समझते हों, यदि एक लिपि के प्रचार से देश को लाभ पहुँचना सम्भव जानते हों तो हठ, दुराग्रह और कुतर्क छोड़कर उन्हें देवनागरी लिपि सीखनी चाहिए।" कहना न होगा कि पुस्तक में इस तरह के हिस्से आज की परिस्थितियों में तार्किक रूप में काफी कमज़ोर और सतही जान पड़ते हैं विशेषकर तब जब हमने लोकतांत्रिक संविधान के तहत प्रत्येक समुदाय और समाज को भाषा और संस्कृति के संरक्षण के अधिकार को एक तरह से मौलिक अधिकार का दर्ज़ा दे रखा है।

आज खुद इतिहास का हिस्सा बन चुकी यह पुस्तक जिस तरह से हिन्दी भाषा के इतिहास पर बात करती है वह पाठकों को हिन्दी भाषा और समाज को समझने में काफी सहायक साबित होती है। पुस्तक अपने छोटे से कलेवर के बावजूद आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की जिस भाषा नीति और भाषा के उत्पत्ति सम्बन्धी विचार को सामने लाती है वह निश्चित रूप से संस्कृत को हिन्दी भाषा की जननी मानने वाले नज़रिए से सर्वथा भिन्न एक स्वाभाविक और प्रगतिशील राय के साथ जाती है। जहाँ भाषा का सम्बन्ध जीवन संघर्षों से होता है और उस

के विविध रूप जीवन संघर्षों की 'डाड़ा-मेंड़ी' (द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध) के साथ तैयार होते हैं। उस का विकास सभ्यता के साथ ऐतिहासिक रूप में ग्रहण और त्याग की प्रक्रिया के क्रम में होता चलता है। भाषा के इतिहास के बहाने सामाजिक सांस्कृतिक इतिहास पर विचार करना इस का एक अहम पक्ष है। इसे पढ़ते समय ऐतिहासिक स्मृति और युगीन द्वंद्व को ध्यान में रखना जितना ज़रूरी है उतना ही आज के समय में भाषिक विमर्शों के साथ भी इसे जोड़ने की जरूरत जान पड़ती है।

कुल मिलाकर यह कि समाज की गतिशील अवस्था और संस्कृति के प्रवाह को ध्यान में रखकर जिस तरह द्विवेदी जी हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और उस के विकास पर विचार करते हैं उस से यह बात तो साफ हो जाती है कि हिन्दी भाषा का जो रूप आज हमारे सामने है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। इसे पढ़ने पर संस्कृति की एकरूपता का कटघरा निर्मित करने वालों का भ्रम भी जाता रहेगा कि भाषा और संस्कृति में शुद्धता जैसी कोई चीज नहीं हुआ करती है। पुस्तक इस विचार के साथ आगे बढ़ती है कि आज हिन्दी भाषा का जो स्वरूप और उस की जो संरचना है, संस्कृति के अन्य पक्षों की तरह उस में भी मिलावट है और सब कुछ अविशुद्ध है। मानव संस्कृति के विकास पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा कही गई बात से सहमत होते हुए भाषा के सम्बन्ध में भी यह कह देना अनुचित न होगा कि यहाँ भी "शुद्ध है केवल मानव की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। जो गंगा की अबाधित, अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है।"

यह किताब इस बात की बानगी है कि तत्कालीन हिन्दी भाषी समाज के लोकवृत्त में खड़ी बोली हिन्दी की लिपि और मानकता के प्रश्नों पर बखूबी विचार हुआ करता था। इस के ऐतिहासिक सन्दर्भ और इस में लिखी गई बातें कई मायनों में भाषा और समाज के बनते-बिगड़ते रिश्तों के क्रम में काफी मानीखेज हैं। यह पुस्तक हिन्दी भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी विचारों में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'पुरानी हिन्दी' और अयोध्या प्रसाद खत्री की पुस्तक 'खड़ी बोली हिन्दी की कविता' से जुड़ती है तथा बाद के दिनों में हिन्दी भाषा और समाज के आपसी रिश्तों को लेकर किए गए क्रिस्टोफर किंग, वसुधा डालमिया, ज्ञानेद्र पाण्डेय, फ्रेंचेस्का ओरसीनी के वैसे शोध कार्यों का आधार बनती है जो सही मायने में किसी भी भाषा के बनने में उस की स्वभावगत प्रक्रियाओं को सामने लाने वाले हैं। आज के समय में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषा सम्बन्धी विचारों की प्रासंगिकता को महसूस करती हुई 'हिन्दी का लोकवृत्त' पुस्तक में फ्रेंचेस्का ओरसीनी लिखती हैं—

"किसी भी भाषा के बनने में उन राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हलचलों का हाथ होता है जो उस भाषा के बनते समय चल रही होती हैं। अमीर खुसरो के समय से चली आ रही हिन्दी के बारे में जब भारतेन्दु हरिश्चन्द ने 'हिन्दी नई चाल में ढली' की घोषणा की थी तो वे इस सच्चाई को प्रतिध्वनित कर रहे थे। यही 'नई चाल' बीसवीं सदी के शुरू होते-होते एक नया मोड़, एक नया अन्दाज़ अपनाने लगी थी। आज इक्कीसवीं सदी में भी हिन्दी भाषा लगातार विवादों और चर्चा के केन्द्र में है। उस के रूप से लेकर, जिस में वर्तनी और शब्द भण्डार प्रमुख हैं, उस के आन्तरिक तत्त्व तक सभी कुछ सवालों के घेरे में हैं। अंग्रेजी का हमला अगर उसे 'हिंग्लिश' बनाए दे रहा है तो पुरातनपन्थियों की जकड़बन्दी उसे 'हिंस्कृत' करने पर आमादा है। उस में अब उतनी भी सजीवता नहीं बची जितनी हमें आचार्य द्विवेदी में नज़र आती है। आचार्य द्विवेदी के समय से आगे बढ़ने की बजाए कहा जाए कि वह पीछे हो गई है.."

दीनानाथ मौर्य दो दशक से भाषा शिक्षा के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन पौड़ी उत्तराखंड में बतौर हिन्दी भाषा रिसोर्स पर्सन कार्यरत हैं। सम्पर्कः dina.maurya@azimpremjifoundation.org